भारतीय ज्ञान धरोहर
विमर्श और परंपरा

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2023

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 69 - 1

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

7

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचारक और राजनीति के तत्व

डॉ. मुकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीन भारत में राजनीति धर्म और नैतिकता से गहराई से जुड़ी थी। वैदिक काल में शासन की अवधारणा यज्ञों, देवताओं और सामाजिक कर्तव्यों के माध्यम से विकसित हुई, जहाँ धर्म राजा की शक्ति को वैधता भी देता था और उस पर नियंत्रण भी रखता था। वैदिकोत्तर काल में जब राजतंत्र संगठित रूप लेने लगा, तब धर्म पर आधारित राजधर्म की अवधारणा मजबूत हुई। राजा को प्रजा का रक्षक, न्यायप्रिय और धर्मपालक माना गया, जिसके लिए उसका आचरण मर्यादित और नैतिक होना आवश्यक था।

इस परंपरा को आगे बढ़ाने में कई महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारकों का योगदान रहा। मनु ने मनुस्मृति में राजधर्म और दण्ड-विधान का विस्तृत वर्णन करते हुए राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि तो बताया, पर उसे धर्म के अधीन रखा। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के माध्यम से राजनीति को अत्यंत व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप दिया। उन्होंने राज्य को विभिन्न अंगों का जीवित संगठन माना और आर्थिक, सामरिक, प्रशासनिक तथा राजनयिक कौशल को शासन का मूल आधार बताया। बौद्ध राजनीतिक विचारों में बुद्ध और अशोक ने राजनीति को करुणा, अहिंसा और जनकल्याण से जोड़ा। अशोक का शासन नैतिक आदर्शों पर आधारित कल्याणकारी मॉडल के रूप में उभरा। महाभारत में भीष्म ने राजा के लिए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि प्रजा की भलाई ही राजा का वास्तविक सुख है।

राजनीति के मूल तत्वों में राजधर्म, दण्डनीति, मंत्री-परिषद, सेना, कोष, जनपद और प्रजा का महत्व सर्वोपरि था। इन सभी तत्वों का अंतिम उद्देश्य समाज में व्यवस्था, न्याय और जनकल्याण की स्थापना था।

प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था मूलत: एक संवैधानिक राजतंत्र थी, जहाँ

राजा शक्तिशाली होते हुए भी धर्म, शास्त्रों और प्रशासनिक मंत्रिमंडल के नियंत्रण में रहता था। यही कारण है कि इसे सचिव-तंत्र कहा गया। राजतंत्र के साथ-साथ गणराज्यों में भी जनसभाओं को अत्यधिक महत्व प्राप्त था, जो राजनीतिक निर्णयों में जनता की सीधी भागीदारी का प्रमाण है।

भारतीयों ने जहाँ धर्म, आध्यात्म और दर्शन को उच्च स्थान दिया, वहीं उन्होंने सांसारिक उन्नति को भी आवश्यक माना। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य केवल मोक्ष नहीं, बल्कि अभ्युदय—अर्थात् सामाजिक और भौतिक उन्नति—भी था। इसी कारण उन्होंने अनेक विद्याओं और कलाओं का विकास किया। शुक्राचार्य ने 32 विद्याओं का उल्लेख किया है, जिनमें अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और शिल्पशास्त्र प्रमुख हैं। छान्दोग्य उपनिषद में नारद द्वारा वर्णित वेद, पुराण, राशि विद्या, युद्ध नीति, नक्षत्र विद्या, भूत विद्या आदि ज्ञान-वर्ग यह दिखाते हैं कि शिक्षा का विस्तार अत्यंत व्यापक था।

जातक साहित्य तथा वायु पुराण में अष्टादश विद्याओं का वर्णन मिलता है, साथ ही शिल्प, धनुर्विद्या, चिकित्सा, हस्तिविज्ञान और पशु-भाषा समझने जैसी व्यावहारिक विद्याएँ भी उल्लिखित हैं। इन विविध उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय केवल आध्यात्मिक ज्ञान तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे इहलौकिक जीवन, तकनीक, विज्ञान और समाज-कल्याण के विकास में भी समान रूप से रुचि रखते थे।

शुक्रनीतिसार में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चार प्रमुख विद्याओं का उल्लेख करते हुए दण्डनीति को विशेष महत्त्व दिया गया है। शुक्रनीति के अनुसार 'दण्ड' का अर्थ केवल दंड देना या सजा देना नहीं है, बल्कि मर्यादा, अनुशासन और नियंत्रण का वह साधन है जो समाज में व्यवस्था बनाए रखता है। इसी कारण राजा को भी 'दण्ड' कहा गया है, क्योंकि वह मर्यादा और अनुशासन का सर्वोच्च प्रतीक है। दण्ड को मार्गदर्शक शक्ति माना गया है और उसकी नीति को 'दण्डनीति' कहा जाता है, क्योंकि वही शासन को उचित दिशा प्रदान करती है।

महाभारत के शान्तिपर्व में भी दण्ड और दण्डनीति की व्याख्या इसी भाव से की गई है। वहाँ कहा गया है कि दण्ड का कार्य उद्धत और अनियंत्रित लोगों को संयमित करना है। मनुष्यों में अव्यवस्था न फैलने पाए और राज्य की संपदा एवं व्यवस्था सुरक्षित रहे, इस उद्देश्य से मर्यादा-स्थापना की गई, जिसे दण्ड कहा गया।

स्पष्ट है कि दण्ड का अर्थ केवल 'सजा' नहीं है। उसका वास्तविक प्रयोजन अराजकता दूर करना, व्यवस्था स्थापित करना, मनुष्यों की उच्छृंखलता को संयमित करना और समाज में वास्तविक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना है। अनुशासन और

व्यवस्था को कायम रखकर दण्डनीति समाज को स्थिर, न्यायपूर्ण और संतुलित बनाती है।

प्राचीन भारतीय राजनीति-चिंतन में राजनीति, राजधर्म, दण्डनीति और अर्थशास्त्र जैसे शब्द एक ही व्यापक शासन-शास्त्र के रूप में प्रयुक्त हुए। कौटिल्य का अर्थशास्त्र आधुनिक अर्थों में केवल आर्थिक ग्रन्थ नहीं, बल्कि संपूर्ण राजनीति और राज्य-व्यवस्था का शास्त्रीय प्रतिपादन है। उन्होंने 'अर्थ' को मनुष्यों द्वारा बसाई गई भूमि बताया, जिसके लाभ, सुरक्षा और पालन का जो ज्ञान है, वही अर्थशास्त्र है।

कौटिल्य की इस व्याख्या में राज्य के दो मूल तत्व—भूमि और जन—स्पष्ट रूप से सम्मिलित हो जाते हैं। तीसरा तत्व, अर्थात् संगठित शासन या दण्ड (राजकीय अधिकार और अनुशासन), राजनीति ग्रंथों में पृथक रूप से उल्लिखित है। इस प्रकार दण्डनीति, अर्थ और राजधर्म मिलकर प्राचीन भारतीय राज्य-संस्था की आधारशिला बनाते हैं, जहाँ शासन का उद्देश्य केवल व्यवस्था नहीं, बल्कि राज्य की रक्षा, समृद्धि और नैतिक अनुशासन का पालन भी है।

प्राचीन भारतीय राजनीति-चिंतन में राज्य और शासन से संबंधित शास्त्र को कई नामों से संबोधित किया गया—राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र। मनुस्मृति और महाभारत इसे राजधर्म कहकर राजा के कर्तव्यों, उसकी शासन-पद्धति और राज्य-व्यवस्था के आदर्श स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इसे राजशास्त्र कहा गया है, जिससे तात्पर्य है कि यह शास्त्र राजा को शासन की दिशा प्रदान करता है।

दण्डनीति का विशेष महत्व था, क्योंकि मनु और महाभारत दोनों के अनुसार दण्ड ही प्रजा का वास्तविक नियंत्रक है। दण्ड के भय से अपराधी संयत रहते हैं, समाज में अनुशासन बना रहता है और धर्म की रक्षा होती है। मनु का मत है कि दण्ड का सही प्रयोग प्रजा को सुखी करता है, उसका दुरुपयोग प्रजा और राजा दोनों को हानि पहुँचाता है, और यदि दण्ड बिल्कुल न हो तो समाज में मात्स्य न्याय अर्थात् बलवान द्वारा निर्बल का शोषण—आरंभ हो जाता है।

कौटिल्य भी संतुलित दण्ड को सर्वोत्तम मानते हैं। उनके अनुसार अत्यधिक कठोरता प्रजा में आतंक पैदा करती है, जबकि अत्यधिक शिथिलता शासन को निष्प्रभावी बना देती है। इसलिए न्यायपूर्ण, संतुलित और उचित दण्ड ही उत्तम शासन की आधारशिला है।

ऋग्वेद में राजनीति से संबंधित अनेक सूक्त हैं, जो उस समय की शासन-व्यवस्था, युद्ध-नीति, सामाजिक संरचना और राजधर्म को समझने का आधार प्रदान

करते हैं। वर्णित सूक्तों में राजकर्म, राजा–प्रजा संबंध, युद्धनीति, कृषि–व्यवस्था, स्वराज्य की भावना और लोककल्याण जैसे तत्वों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इन सूक्तों में 1.25, 1.130, 4.42 और 5.37 जैसे मंत्र राजकर्म और राजधर्म को रेखांकित करते हुए बताते हैं कि राजा का कार्य जन–कल्याण और व्यवस्था–रक्षा है। 1.32, 7.18, 7.33, 8.96 और 10.103 जैसे युद्ध संबंधी सूक्त प्राचीन आर्यों की सैन्य–परंपरा, शत्रुनाश और सुरक्षा–व्यवस्था को चित्रित करते हैं। 1.114 तथा 1.174 में लोककल्याण और धर्माधारित शासन का आदर्श सामने आता है।

कृषि संबंधी सूक्त (4.47) आर्थिक जीवन की रीढ़ को दर्शाते हैं, जबकि 8.46 में दान और उदारता को राजधर्म का अंग बताया गया है। 10.173 में राजा और राज्य की भूमिका और 10.191 में संगठन व सामूहिक एकता के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। 10.85 और 10.86 जैसे सूक्त सामाजिक जीवन, विवाह और नारी–गौरव के पक्ष को प्रकट करते हैं। इस प्रकार, ऋग्वेद के ये सूक्त न सिर्फ धार्मिक या आध्यात्मिक महत्व रखते हैं, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और प्रशासनिक दृष्टि से भी अत्यंत मूल्यवान हैं।

ऋग्वेद में राज्य–व्यवस्था से जुड़े विभिन्न पदाधिकारियों के कर्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जो प्राचीन भारतीय राजनीति की सुविकसित संरचना का संकेत देते हैं। ऋग्वेद के अनुसार—

– **मन्त्री** का कार्य प्रजा की उत्तम व्यवस्था सुनिश्चित करना और राजा की नीतियों एवं विचारों के अनुरूप शासन चलाना है। इससे शासन का समन्वित और सामूहिक रूप सामने आता है।

– **पुरोहित** का दायित्व युद्ध में जाने वाले राजा के लिए शुभ कर्म—स्वस्त्ययन—करना, उसे शस्त्र प्रदान करना और क्षात्रशक्ति व वीर्य की वृद्धि करना है। पुरोहित शासन के आध्यात्मिक और नैतिक आधार को मजबूत करता है।

– **दूत** राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। वह संदेशों और समझौतों को ले जाने वाला राजनयिक अधिकारी है, जो राज्य की नीतियों और हितों को दूसरे राज्यों तक पहुँचाता है।

– **गुप्तचर** का प्रमुख कार्य प्रजा, अधिकारियों और बाहरी लोगों की गतिविधियों की गुप्त जानकारी एकत्र करना है, जिससे राज्य में सुरक्षा और सुव्यवस्था बनी रहे।

– **सेनापति** का कार्य शत्रु से युद्ध कर देश की रक्षा करना है। वह सैन्य शक्ति, अनुशासन और युद्ध–नीति का सर्वोच्च संचालक होता है।

ऋग्वेद की तुलना में अथर्ववेद में राजनीतिक विषयक सामग्री अधिक विस्तृत

रूप में मिलती है। यहाँ राज्य, शासन, सुरक्षा, संगठन और सामाजिक अनुशासन से जुड़े अनेक सूक्त हैं, जो प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार को और अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं।

यजुर्वेद में भी राजनीति-संबंधी महत्वपूर्ण सिद्धांत मिलते हैं। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि—

- राजा की नियुक्ति का अधिकार प्रजा को होना चाहिए। प्रजा को ऐसा राजा चुनना चाहिए जो गुणवान, कर्तव्यनिष्ठ और प्रजाहित में तत्पर हो।

- राजा और प्रजा को परस्पर एक-दूसरे के हितों की रक्षा करनी चाहिए। इससे शासन की लोकतांत्रिक-सी भावना का संकेत मिलता है।

वेदों के अनुसार राजपुरुषों (अर्थात् राजा के सहायक अधिकारियों) में निम्न गुण आवश्यक माने गए हैं—

- वे शारीरिक रूप से स्वस्थ, सच्चरित्र, पराक्रमी और नीतिपरायण हों।
- वे सत्पुरुषों एवं सदाचारी प्रजा की रक्षा करते हुए चोर, दुष्ट और शत्रुओं से देश को सुरक्षित रखें।
- हर कार्य राज्यहित और लोककल्याण को ध्यान में रखकर करें।
- प्रजा से प्राप्त कर का उपयोग उसी की सुरक्षा, सुविधाओं और दुष्टों के दमन में किया जाए।
- साथ ही पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का संतुलित पालन करें।

अथर्ववेद में राज्य की सुरक्षा, समृद्धि और स्थायित्व के लिए आवश्यक तत्वों का अत्यंत स्पष्ट और व्यावहारिक वर्णन मिलता है। इसके अनुसार किसी भी राष्ट्र के सुदृढ़ रहने के लिए केवल राजा या शासन-व्यवस्था का सशक्त होना पर्याप्त नहीं, बल्कि संपूर्ण राज्य-जीवन का संतुलित, सुरक्षित और समृद्ध होना अनिवार्य है।

अथर्ववेद के अनुसार—

- राज्य में गुणवान नागरिकों का निवास अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि सुशिक्षित और सदाचारी प्रजा ही शक्तिशाली राज्य की आधारशिला होती है।
- जल, वायु, अग्नि, सिंचाई, कृषि, धन-धान्य, उद्योग, औषधियाँ और रत्न जैसी प्राकृतिक एवं भौतिक संपदाएँ राज्य को समृद्ध और आत्मनिर्भर बनाती हैं।
- प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के अवसर मिलना चाहिए, जिससे समाज में संतुलन और प्रगति बनी रहे।
- प्रजापालन उचित रीति से होना चाहिए, अर्थात् शासन न्यायपूर्ण, संरक्षक और

लोकहितकारी हो।

- राज्य की भौगोलिक सीमाएँ शत्रुओं से सुरक्षित हों, तथा आसपास का प्राकृतिक वातावरण भयमुक्त और शांतिपूर्ण हो।
- चोर-डाकू, हिंसक जीव, विषैले जन्तु और आततायी लोगों का अभाव राज्य की आंतरिक सुरक्षा को सुनिश्चित करता है।
- राज्य की रणनीति और योजनाओं की जानकारी शत्रु को न मिले, इसका अर्थ है कि गुप्तचर व्यवस्था और सुरक्षा तंत्र सुदृढ़ होना चाहिए।
- राज्य के लोग शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ और साहसी हों, तभी राष्ट्र बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रह सकता है।

अथर्ववेद वैदिक साहित्य में राजनीतिक चिंतन का सबसे व्यावहारिक और संगठित रूप प्रस्तुत करता है। इसमें राजा, प्रजा, राज्य-व्यवस्था, सैन्य संगठन, सभा-संस्थाएँ और राष्ट्र-धर्म से जुड़े विचार अत्यंत स्पष्ट रूप में मिलते हैं।

अथर्ववेद यह बताता है कि राजा का पद प्रजा की सहमति और धर्मपालन पर आधारित होना चाहिए। इसलिए निर्वासित राजा की पुनर्स्थापना, पदच्युत राजा के पुनर्वरण और प्रजा द्वारा राजा के चयन से जुड़े सूक्त (1.9, 3.3, 3.4, 6.87) राजसत्ता को नैतिक और दायित्वपूर्ण संस्था सिद्ध करते हैं। साथ ही, राज्याभिषेक और राजा की स्थापना (4.8, 6.88, 6.128) से यह स्पष्ट होता है कि शासन केवल शक्ति का नहीं, बल्कि धार्मिक-नैतिक उत्तरदायित्व का भी पद था।

अथर्ववेद में राष्ट्र के विकास और विस्तार की स्पष्ट संकल्पना मिलती है। 1.29, 3.8 और 12.1 जैसे सूक्त राष्ट्र को सम्पन्न, विस्तृत और गौरवशाली बनाने का मंत्र देते हैं। राष्ट्र के लिए 'विराज्, स्वराज्, सम्राज्' जैसी उपाधियाँ उसकी स्वतंत्रता, प्रभुत्व और सांस्कृतिक-नैतिक शक्ति का प्रतीक हैं।

सैन्य पक्ष में अथर्ववेद युद्ध, सुरक्षा और विजय को राज्य का अनिवार्य कार्य बताता है (2.12, 2.16, 6.99, 7.50, 11.9)। राजा का सेना का निरीक्षण (4.31), सैनिकों को उत्साह प्रदान करना (4.32), तथा शत्रुनाशन के लिए रणनीति बनाना— इन सबको शासन की आवश्यक कड़ी माना गया है।

राजनीतिक संस्थाओं के रूप में सभा और राष्ट्रसभा (7.12, 19.55) का वर्णन यह सिद्ध करता है कि प्राचीन वैदिक शासन सामूहिक विचार-विमर्श और जनमत पर आधारित था। 'राष्ट्ररक्षक' और 'राष्ट्रभृत' जैसे पद सुरक्षा और प्रशासन के संगठित ढाँचे को दर्शाते हैं।

नैतिक दृष्टि से अथर्ववेद राजा को केवल शासक नहीं, बल्कि प्रजापालक,

रक्षक और कल्याणकर्ता मानता है। क्षात्रधर्म (3.19), प्रजा को अभय देना (6.40, 19.14-16) और शांति-सुरक्षा प्रदान करना राजधर्म का मूल माना गया है।

यजुर्वेद मूलत: यज्ञों का ग्रंथ है, किंतु इसके यज्ञ-विधान केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि राष्ट्र-समृद्धि, राजा की शक्ति, सामाजिक-सामुदायिक कल्याण और विश्व-शान्ति जैसे व्यापक राजनीतिक लक्ष्यों से जुड़े हैं। इसलिए यजुर्वेद में राजनीति संबंधी सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

यजुर्वेद के प्रमुख अध्यायों और मंत्रों में राजनीति के अनेक स्वरूप उभरते हैं। वाजपेय यज्ञ (अध्याय 9) राजा को शक्ति, सामर्थ्य और वैभव प्रदान करने का अनुष्ठान माना गया है। राजसूय यज्ञ (अध्याय 10) राज्याभिषेक और राजकीय अधिकारों की विधिवत् स्थापना का विधान है, जिसमें राजा को राष्ट्र की रक्षा और लोककल्याण का दायित्व सौंपा जाता है। अग्निचयन (अध्याय 14, मंत्र 28-31) में विभिन्न अधिपतियों के कर्तव्य और राजकीय संरचना के संकेत मिलते हैं।

राजनीतिक संगठन के रूप में सेनानी और ग्रामणी (अध्याय 15, मंत्र 15-19) का उल्लेख बताता है कि शासन-व्यवस्था के अधीन सैन्य तथा ग्रामीण नेतृत्व अत्यंत महत्वपूर्ण पद थे। सौत्रामणी यज्ञ (अध्याय 19-21) से राजसत्ता की पुष्टि और स्थिरता का प्रतीक मिलता है। अश्वमेध यज्ञ (अध्याय 22) व्यापक राजकीय आधिपत्य, शक्ति-स्थापना और क्षेत्रीय प्रभुत्व का प्रत्यक्ष संकेतक है।

पुरुषमेध (अध्याय 30) में विभिन्न राष्ट्रीय उद्योगों, व्यवसायों और वर्गों का वर्णन है, जो राज्य-संगठन और आर्थिक व्यवस्था की झलक देता है। रुद्राध्याय (अध्याय 16) में गणपति, सेना-सेनापति तथा युद्ध में उपयोग किए जाने वाले शस्त्रों का उल्लेख राजनीति और सैन्य-तंत्र की गहन समझ को दर्शाता है।

यजुर्वेद राजा और राज्य के संबंधों को स्पष्ट करता है। अध्याय 20 (मंत्र 1-10) में राजधर्म, शासन और प्रजापालन के महत्वपूर्ण सिद्धांत वर्णित हैं। अध्याय 20 (मंत्र 25) ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय को राजनीतिक-धार्मिक सन्तुलन का मूल मानता है, जो वैदिक शासन की द्विसंरचनात्मक प्रकृति को सिद्ध करता है।

राजनीतिक दर्शन के उच्च आदर्श विश्व शान्ति, विश्वबंधुत्व (अध्याय 36, मंत्र 9-23), जनकल्याणभावना (शिवसंकल्पसूक्त, अध्याय 34, मंत्र 1-6) तथा समदृष्टित्व और सर्वभूतात्मवाद (अध्याय 40, मंत्र 6-7) में व्यक्त हुए हैं। ये मंत्र बताते हैं कि यजुर्वेद का राजनीतिक चिंतन केवल शक्ति या शासन तक सीमित नहीं, बल्कि समस्त प्राणियों के कल्याण पर आधारित है।

यजुर्वेदीय परंपरा से जुड़े ग्रंथ—तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण,

ऐतरेय एवं पंचविश ब्राह्मण में भी राजकर्मचारियों के गुण, कर-व्यवस्था, प्रशासन और धर्माधारित शासन के अनेक सिद्धांत मिलते हैं।

पाविनी की अष्टाध्यायी भाषा-विज्ञान का महान ग्रंथ है, परन्तु इसमें शासन-व्यवस्था और राजनीति से जुड़े कई महत्वपूर्ण तथ्य भी मिलते हैं। पाविनी ने उन शब्दों और व्याकरणीय रूपों का उल्लेख किया है जिनसे वैदिक-उत्तर भारत की राजनीतिक संरचना का चित्र स्पष्ट होता है। उनके द्वारा बताए गए पदों—राजा, मंत्रिपरिषद्, सभा, शासनाधिकारियों, न्याय-व्यवस्था, दंड-प्रणाली, सेना, सेनापति, सैनिक, जनपद, संघ, गण, आयुधजीवी संघ से पता चलता है कि तत्कालीन समय में राजनीतिक जीवन अत्यंत संगठित और बहुस्तरीय था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि पाविनी के युग में गणराज्य, जनपद व्यवस्था और सामूहिक राजनीतिक संगठन सक्रिय रूप से विद्यमान थे।

इसी प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति, अर्थनीति और प्रशासन का सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा विस्तृत ग्रंथ है। इसमें कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनेक मतों को उद्धृत किया है, जिससे यह पता चलता है कि उनसे पहले भी शासन और राजनीति पर गहन चिंतन होता रहा था। कौटिल्य ने जिन विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया है उनमें प्रमुख हैं—भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, कौण्डन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कणिङ्ग भारद्वाज, कात्यायन, घोटमुख, दीर्घचारायण, पिशुनपुत्र और किन्जलक। ये सभी आचार्य राजनीतिक सिद्धांतों, प्रशासन और राज्यक्रिया पर अपने-अपने मत रखते थे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कुछ राजनीतिक-दार्शनिक सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे—मानव, बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर और आम्भीय। इन सम्प्रदायों के विचारों को उद्धृत करके कौटिल्य यह दर्शाते हैं कि राजनीतिक चिंतन कोई एकरूप या सीमित परंपरा नहीं था, बल्कि विचारों का एक विस्तृत प्रवाह था, जिसमें कई मत-मतान्तर चलते थे और तदनुसार शासन का विकास भी होता रहता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में राजनीतिशास्त्र के उद्‌भव और रूपांकन का अत्यंत संक्षिप्त किंतु सारगर्भित इतिहास मिलता है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि इस शास्त्र का प्रारम्भिक आधार ब्रह्मा द्वारा रचित विशाल नीतिशास्त्र था, जिसमें धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का विस्तृत समन्वय होने के कारण उसे 'त्रिवर्ग' कहा गया। बाद के आचार्यों ने इसकी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए इसे क्रमशः संक्षिप्त और व्यवस्थित किया। सर्वप्रथम भगवान् विशालाक्ष ने इसे अपनाया और दस हजार अध्यायों के रूप में व्यवस्थित किया। उनके बाद इन्द्र ने इसे और संक्षिप्त कर पाँच हजार अध्यायों में

प्रस्तुत किया। इसी तरह बृहस्पति ने इसे घटाकर तीन हजार अध्याय किए और अंत में शुक्राचार्य ने इसे संक्षेप में एक हजार अध्यायों का बनाया, जिसे 'शुक्रनीतिशास्त्र' कहा गया। शान्तिपर्व में विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, मनु, शुक्र, भारद्वाज, गौरशिरा आदि अनेक प्राचीन नीतिशास्त्र-प्रवर्तकों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि राजनीति का यह शास्त्र एक दीर्घ और विकसित परंपरा का परिणाम था।

कामन्दकीय नीतिसार आचार्य कामन्दक का लगभग 500 ई. का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक ग्रन्थ है। इसमें 20 सर्ग और 36 प्रकरण हैं और इसकी विषय-वस्तु मुख्यत: राजतंत्र और राजा के कर्तव्यों पर आधारित है। इसका अधिकांश भाग कौटिल्य अर्थशास्त्र से प्रभावित है। ग्रन्थ की शुरुआत इन्द्रियजय, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के वर्णन से होती है। इसके बाद राजा और राज्य के सात अंग, अमात्य, राजकर्मचारी, दण्डविधान और कण्टकशोधन का विवरण दिया गया है। मध्य भाग में राजा की सुरक्षा, मंडल सिद्धांत, शत्रु-मित्र-विचार, संधि-विग्रह, मंत्रणा, दूत और गुप्तचर जैसे विषय आते हैं। अन्त में विजययात्रा, सैन्य संगठन, साम-दाम-दंड-भेद, व्यूह रचना तथा रथ, अश्व और पैदल सेना का वर्णन है।

डॉ. अल्तेकर द्वारा उल्लिखित राजशास्त्र-विषयक ग्रन्थ 1000 ईस्वी के बाद के संकलनात्मक कार्य माने जाते हैं, जिनमें मौलिकता अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। इन ग्रन्थों में धर्म, राजनीति और शासन के विविध अंगों का संग्रहात्मक रूप से वर्णन मिलता है। भोज के 'युक्तिकल्पतरु', सोमेश्वर के 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', लक्ष्मीधर के 'राजनीतिकल्पतरु', देवणभट्ट के 'राजनीतिकांड', कृष्णदेव राय के 'आमुक्तमाल्यद' तथा नीलकंठ के 'नीतिमयूख' जैसे ग्रन्थों में राजकर्म, अमात्य-व्यवस्था, दुर्ग-रचना, कोष-संचालन, परराष्ट्र नीति तथा युद्ध-रणनीति का व्यवस्थित उल्लेख मिलता है। इनका महत्व मुख्यत: इस बात में निहित है कि इन्होंने पूर्ववर्ती राजशास्त्रीय धारा को संकलित कर परवर्ती युग के राजनीतिक चिंतन को एक रूप में संरक्षित किया, यद्यपि इनमें नवीनता की अपेक्षा परम्पराओं का सूत्रबद्ध संकलन अधिक दिखाई देता है।

शुक्रनीति को प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण और स्वतंत्र स्रोत माना जाता है। यह ग्रन्थ राजनीति, दण्डनीति और अर्थविद्या को स्वयं में एक स्वायत्त विद्या के रूप में स्थापित करता है, जिससे इसकी विशिष्टता और अधिक स्पष्ट होती है। विशेष रूप से इसमें कार्मिक प्रशासन का जो संगठित और व्यावहारिक विवेचन मिलता है—जैसे अधिकारियों के चयन, प्रशिक्षण, वेतन-विनियमन, पदोन्नति, अवकाश और सेवानिवृत्ति लाभ—वह इसे प्राचीन काल के प्रशासनिक साहित्य में

एक मौलिक कृति बनाता है।

भारतीय राजशास्त्रीय परम्परा में राजा के अधिकारों की तुलना में उसके कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों पर अधिक बल दिया गया है। नारद द्वारा राजा को प्रजा का सेवक कहा जाना इस दृष्टि को प्रकट करता है कि कर वास्तव में प्रजा द्वारा उसकी रक्षा-सेवा के बदले दिए जाने वाला वेतन है। यद्यपि राजा को देवत्व प्रदान कर उसे आदेशपालन योग्य बनाया गया, किन्तु स्मृतिकारों ने यह भी सुनिश्चित किया कि किसी दुष्ट या अत्याचारी राजा और मंत्री को दण्डित करने की कठोर व्यवस्था भी रहे। इसलिए राजा के देवत्व के साथ-साथ उसके अनाचार पर विनाश और मृत्यु का प्रावधान भी रखा गया, जिससे शासन व्यवस्था संतुलित, उत्तरदायीं और नैतिक बने रह सके।

निष्कर्षतः प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का व्यापक स्वरूप ऐसा रहा है जिसमें राजनीति, अर्थशास्त्र, दण्डनीति और प्रशासन को गहराई से समझने का प्रयास मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, विभिन्न आचार्यों के मतों, अनेक सम्प्रदायों, तथा बाद के संकलनात्मक राजशास्त्रीय ग्रन्थों तक—सभी में राज्य, राजा, मन्त्रिपरिषद्, अधिकारी, न्याय, दण्ड, सेना, जनपद, गण-संघ तथा प्रशासनिक ढांचे का क्रमिक विकास स्पष्ट दिखाई देता है।

इन सभी ग्रन्थों में एक मूल भावना निरन्तर बनी रहती है कि राजा केवल अधिकारों का स्वामी नहीं, बल्कि प्रजा का रक्षक और सेवक है। स्मृतिकारों द्वारा राजा को देवत्व देना सामाजिक अनुशासन बनाए रखने का साधन था, परन्तु साथ ही अत्याचारी राजा के दण्ड-विनाश का प्रावधान भी रखा गया ताकि सत्ता संतुलित और उत्तरदायी बनी रहे। शुक्रनीति इस परम्परा में विशेष स्थान रखती है, क्योंकि यह राजनीति और कार्मिक प्रशासन—जैसे चयन, प्रशिक्षण, वेतन, पदोन्नति और अवकाश—को वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करती है।

समग्रतः, प्राचीन भारतीय राजनीतिक साहित्य यह सिद्ध करता है कि भारत में शासन, नीति, न्याय और प्रशासन को अत्यन्त व्यवस्थित, नैतिक और दायित्वप्रधान रूप में समझा गया था, जहाँ राज्य का अंतिम उद्देश्य प्रजा की सुरक्षा, कल्याण और सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता था।

❖❖❖